International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 03-03-2025, Accepted: 02-04-2025, Published: 18-04-2025
Volume 11, Issue 2, 2025, Page No. 13-15

समाज–दर्शन के साक्षात विग्रह : कबीर

डॉ. प्रीति
सहायक प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग, जीसस एंड मेरी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

सारांश
पाश्चात्य अकादमिक जगत ज्ञान, विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में स्वयं को श्रेष्ठ मानता रहा है, और औपनिवेशिक मानसिकता के प्रभाव के कारण हमारा अकादमिक समाज भी उसका अनुकरण करने में पीछे नहीं रहा। इस प्रवृत्ति ने न केवल हमारे आत्मगौरव को क्षति पहुँचाई है, बल्कि हमें अंग्रेज़ी बौद्धिक परंपराओं का अनुयायी बना दिया है। जबकि वास्तविकता यह है कि भारत ज्ञान, विज्ञान, कला, साहित्य और संस्कृति के विविध क्षेत्रों में अत्यंत समृद्ध और उन्नत रहा है। हाल के शोधों से यह स्पष्ट होता जा रहा है कि कई ऐसे दार्शनिक विचार, जिन्हें पश्चिमी दर्शन की उपलब्धि माना जाता है, वे प्राचीन भारतीय परंपरा में पहले से ही विद्यमान रहे हैं।
समाज–दर्शन का क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं है। भारतीय चिंतन परंपरा में समाज और व्यक्ति के संबंधों को लेकर गहरे विमर्श हुए हैं। कबीरदास इसका एक सशक्त उदाहरण हैं, जिन्होंने सामाजिक संरचना, भेदभाव और समता पर मौलिक दृष्टि प्रस्तुत की। भले ही समाज–दर्शन एक अनुशासन के रूप में पश्चिम में विकसित हुआ हो, भारतीय समाज में इसकी जड़ें बहुत पुरानी हैं। यह आलेख इसी तथ्य को रेखांकित करने का प्रयास करता है कि भारतीय परंपरा में समाज–दर्शन का स्वरूप कितना प्राचीन और समृद्ध रहा है।

मूल शब्दः समाज–दर्शन, सामाजिकता, अस्तित्व, अंतस्साधना, एकात्म, सर्वात्मचेता बुद्धि, जन्मांतरवाद और कर्मफलवाद

सत्रहवीं शताब्दी के महान पाश्चात्य दार्शनिक फ्रांसिस बेकन के एक उद्धरण को आधार बनाते हुए उन्नीसवीं शताब्दी के विख्यात समाज दार्शनिक जॉन स्टुअर्ट मैकेंजी जीवन, समाज और दर्शन के पारस्परिक संबंध पर एक महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त करते हैं। वह लिखते हैं कि जीवन और दर्शन इस प्रकार परस्पर जुड़े हुए हैं कि दोनों का पृथकीकरण लगभग असंभव है। आगे वे यह भी कहते हैं कि यह निर्धारित करना अत्यंत कठिन है कि जीवन किसी दर्शन को अधिक प्रभावित करता है या दर्शन जीवन को।[1]
इन दोनों दार्शनिकों के विचारों ने पाश्चात्य बौद्धिक जगत में व्यापक प्रभाव डाला। पहली बार समाज, जीवन और दर्शन को एक साथ रखकर देखने का प्रयास किया गया। इससे पहले पश्चिमी परंपरा में दर्शन को एक स्वतंत्र विषय के रूप में देखा जाता था, जिसका अपना एक पृथक अस्तित्व था। दर्शन को समाज और जीवन से अलग एक अमूर्त अवधारणा माना जाता था। अतः जब इन तीनों को एक साथ देखने की प्रवृत्ति विकसित हुई, तो इसे पाश्चात्य चिंतन में एक क्रांतिकारी परिवर्तन के रूप में स्वीकार किया गया।
परंतु जब पश्चिमी जगत में यह विचार जन्म ले रहा था, उससे सैकड़ों वर्ष पूर्व भारत में एक संत प्रकट हो चुका था, जो बिना किसी औपचारिक शिक्षा के, बिना मसि और कागज का सहारा लिए समाज को एक नई दिशा दे रहा था। यह संत थे कबीर, जिनका चिंतन जीवन, समाज और दर्शन को एक साथ समाहित करता था। कबीर के विचारों को समझने का अर्थ किसी विशुद्ध सैद्धांतिक दर्शन का अध्ययन करना नहीं है, बल्कि उनके जीवन और उनके समाज को समझना है। कबीर के चिंतन में समाज–दर्शन केवल एक बौद्धिक अवधारणा नहीं, बल्कि एक जीवंत अनुभव है, जो समाज की वास्तविक परिस्थितियों से जन्म लेता है और उसे नई दिशा देता है।
कबीर का जीवन और उनकी समाज के प्रति दृष्टि स्वयं में एक व्यापक दर्शन है। उन्होंने कोई विशिष्ट सिद्धांत प्रस्तुत नहीं किया, बल्कि अपने जीवन को ही दर्शन के रूप में जीकर दिखाया। उनके समय का समाज जर्जर रूढ़ियों, मान्यताओं और बाह्याचारों से ग्रस्त था। बाह्याडंबरों की प्रधानता के कारण आंतरिक साधना क्षीण हो गई थी। इसी सामाजिक विडंबना और मन, वचन, कर्म के विभाजन वाले समाज में कबीर का चिंतन विकसित हुआ। यही कारण है कि कबीर का काव्य केवल काव्य नहीं है, बल्कि उसमें गहरी सामाजिक चेतना भी प्रतिबिंबित होती है।
यह प्रवृत्ति केवल कबीर तक सीमित नहीं थी, बल्कि संपूर्ण भक्ति काव्य में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। निर्गुण संत काव्य के विद्वान डेविड एन. लॉरेंजन के अनुसार, 'भक्ति–काव्य मध्यकाल का नहीं, भारतीय इतिहास की अपनी आरंभिक आधुनिकता का काव्य है। भक्ति की कविता में हाशिए की नहीं, अपने समय के प्रभावी सामाजिक समूहों, व्यापारियों और दस्तकारों के सरोकारों को व्यक्त करने वाली आवाजें सुनाई पड़ती हैं।[2] कबीर की रचनाओं में यह सामाजिक अभिव्यक्ति सबसे अधिक मुखर रूप में सामने आती है।
कबीर का काव्य केवल आध्यात्मिकता तक सीमित नहीं, बल्कि उसमें जीवन–दर्शन समाहित है। उनकी वाणी में समाज की वास्तविक स्थितियों का सीधा प्रतिबिंब दिखाई देता है। वे समाज को केवल सुधारने की बात नहीं करते, बल्कि उसकी मूलभूत विसंगतियों को उजागर कर एक नए दृष्टिकोण की प्रस्तावना भी रखते हैं, जो जीवन और दर्शन को एकसाथ रखकर देखता है।
कबीर के दर्शन का मूल आधार जीवन की विशालता, वैविध्य और व्यापकता था। उनकी दृष्टि समग्र थी, जिसमें समन्वय एक प्रमुख तत्व के रूप में उभरकर सामने आता है। उन्होंने मानव मात्र में एकात्म को देखा, जो सभी प्राणियों की आत्मा में समाहित है। उनके लिए जीवन और परमात्मा दोनों ही संकीर्णता से परे थे। कबीर का परमात्मा किसी एक धर्म, संप्रदाय, मज़हब या व्यक्ति विशेष की धारणाओं के अनुरूप परिवर्तित नहीं होता, बल्कि वह सर्वत्र एक समान है और सभी के लिए सुलभ है। इसी विचार को अभिव्यक्त करते हुए वे कहते हैं

''मोको कहां ढूंढे रे बंदे, मैं तो तेरे पास में।
न मैं मंदिर, न मैं मस्जिद, न काबे कैलाश में।''

इस प्रकार कबीर समस्त चराचर में सर्वसत्ता की व्याप्ति को स्वीकार करते हुए प्राणियों में साम्यता के दर्शन को प्रमुखता देते हैं। प्रथम दृष्टया, उनकी यह उक्ति सरल और सामान्य प्रतीत होती है, जो उपनिषदों के ''ईशावास्यमिदं सर्वं'' और अपभ्रंशकालीन गोरखबानी के ''जोइ–जोइ पिंडे, सोइ ब्रह्मांडे'' की

परंपरा में ही आती है। किंतु सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों में इन विचारों के अर्थ समय–समय पर परिवर्तित होते रहे हैं।
संस्कृत काल में यह परमात्मा के प्रति समर्पण का वाक्य था, जबकि कबीर के समय में यह एक विद्रोही स्वर के रूप में उभरता है। संस्कृत साहित्य में प्रायः विद्रोह का स्वर सुनाई नहीं देता। रामधारी सिंह 'दिनकर' इस संदर्भ में लिखते हैं, श्एक विचित्रता और है कि संस्कृत साहित्य में हमें विद्रोह का स्वर कहीं भी सुनाई नहीं देता। गरीबी संस्कृत काल में भी रही होगी। अन्याय उस समय भी होते होंगे। जाति प्रथा जितनी विषैली आज है, संस्कृत काल में उससे कहीं अधिक भयानक रही होगी। जो शूद्र वेद सुन ले, उसके कानों में पिघला हुआ राँगा पिला दो, यह धर्म उसी युग का आविष्कार था। किंतु संस्कृत में कोई भी कवि ऐसा नहीं जनमा, जो यह कहने की हिम्मत करे कि यह अन्याय है और मैं इसका विरोध करूंगा।[3]
संस्कृत युग में जन्मांतरवाद और कर्मफलवाद की अवधारणा इतनी दृढ़ हो चुकी थी कि विद्रोह का कोई अवसर ही नहीं बचता था। समाज के असमानतापूर्ण ढांचे को नियति का परिणाम मानकर स्वीकार कर लिया गया था। परंतु कबीर के समय तक स्थितियाँ बहुत बदल चुकी थीं। उनके लिए यह उक्ति मात्र आध्यात्मिक कथन नहीं थी, बल्कि यह समाज में व्याप्त संप्रदायगत मतभेदों और रूढ़ियों के विरुद्ध एक खुली चुनौती थी। वे विभिन्न मत–संप्रदायों के बने–बनाए सिद्धांतों को अस्वीकार करते हैं और ईश्वर की सर्वव्यापकता पर बल देते हैं।
यह विद्रोही स्वर भारतीय परंपरा में नया नहीं था। जिस प्रकार अतीत में बुद्ध और महावीर ने धर्मांधता और रूढ़िवादिता को चुनौती दी थी, उसी तरह कबीर भी अपने समय में सामाजिक भेदभाव और धार्मिक संकीर्णता का विरोध करते हैं। दिनकर आगे लिखते हैं, 'भारत में विद्रोह के पहले बीज गौतम बुद्ध ने गिराए और वे अंकुरित चाहे जब भी हुए हों, पल्लवित और पुष्पित वे तब हुए, जब सिद्ध साधुओं का समय आया। हिंदी में इस विद्रोह की आग कबीर की वाणी में फूटी थी और वह आग अभी तक बुझी नहीं है।[4]
कबीर का विद्रोह केवल धार्मिक संकीर्णता के विरुद्ध नहीं था, बल्कि वह सामाजिक असमानता और बाह्याडंबरों के विरुद्ध भी था। उनके विचार केवल आध्यात्मिक नहीं थे, बल्कि सामाजिक क्रांति के वाहक भी थे। यही कारण है कि उनकी वाणी केवल भक्तिकाल तक सीमित नहीं रही, बल्कि वह आज भी समाज में नई चेतना जगाने का कार्य कर रही है।
आदिम मानव ने जब ऊँची–नीची, कंटीली भूमि को समतल कर उसे कृषि योग्य बनाने का प्रयास किया, तो यह उसके इतिहास की सबसे क्रांतिकारी और विद्रोही प्रक्रिया थी। इसी क्रांति और विद्रोह की भावना कबीर के दर्शन में भी परिलक्षित होती है। उन्होंने सामाजिक विसंगतियों और विद्रूपताओं की कंटीली जमीन को समतल कर समन्वय और समानता की उर्वर भूमि बनाने का प्रयास किया। समाज में व्याप्त पाखंड और आडंबरों पर उन्होंने बेबाकी से प्रहार किया। हिंदुओं की रूढ़ियों और दिखावे पर कटाक्ष करते हुए वे कहते हैं।

''हिंदू आपनि करे बड़ाई, गागरि छुअन न देई।
वेश्या के पायन तरि सोवें, यह देखा हिन्दुआई।।''

यही आलोचना वे मुसलमानों के पाखंड पर भी करते हैं।

''कांकर–पाथर जोरि कै, मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहिरा हुआ खुदाय।।''

कबीर की दृष्टि केवल धार्मिक पाखंड तक सीमित नहीं थी, बल्कि वे व्यापक सामाजिक अन्याय को भी चुनौती देते हैं। जब वे कहते हैं।

बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल,
जो नर बकरी खात है, तिनको कौन हवाल।''

तो यह केवल पशुबलि का विरोध नहीं है, बल्कि यह उनकी सर्वात्मचेतना का परिचायक है। कबीर संपूर्ण जीव–जगत में उसी परमात्मा की अनुभूति करते हैं, जो सभी में एक समान रूप से व्याप्त है। वे मनुष्यता को सर्वोपरि मानते थे और किसी भी प्रकार की संकीर्णता को स्वीकार नहीं करते थे। यही कारण है कि जब हम उनकी उक्तियों का अध्ययन करते हैं, तो लगता है कि वे हिंदू और मुसलमान दोनों की आलोचना कर रहे हैं। परंतु वास्तव में, वे उन संकीर्णताओं और पाखंडों के खिलाफ थे, जो मनुष्यता के मार्ग में बाधक थे।
कबीर की इस स्पष्टवादिता से वे लोग परेशान थे, जिनकी दुकानें धर्म के नाम पर चलती थीं। धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों को बनाए रखने में जिनका स्वार्थ था, वे कबीर के खुले विद्रोही स्वभाव को सहन नहीं कर सके। इसी कारण, हिंदू और मुसलमान दोनों संप्रदायों के प्रतिनिधि उस समय के शासक सिकंदर लोदी के दरबार में उनकी शिकायत लेकर पहुँचे। संत अनंतदास ने इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा–

''तातै हमें माने न कोई, जब अलग जुलाहा कासी होई।[5]

यानी उनकी सबसे बड़ी समस्या यह थी कि जब तक काशी में कबीर जैसा निर्भीक व्यक्तित्व मौजूद था, तब तक उनकी मान्यताओं का प्रभाव क्षीण होता जा रहा था। कबीर ने धार्मिक संकीर्णता और रूढ़ियों का खुला विरोध किया, जिससे सत्ता और धर्म के ठेकेदार असहज हो उठे। उनकी उपस्थिति ही उनके स्वार्थों के लिए खतरा थी।
कबीर केवल एक भक्त कवि नहीं थे, वे एक सामाजिक क्रांतिकारी भी थे। उन्होंने मनुष्य को संप्रदायों की दीवारों में देखने के बजाय उसे एक व्यापक मानवीय दृष्टिकोण से देखा। उनके लिए न कोई हिंदू था, न कोई मुसलमान– सिर्फ मनुष्य था, और मनुष्यता के मार्ग में जो कुछ भी बाधक था, उसे फटकारने में वे तनिक भी नहीं झिझके।
कबीर बाह्याडंबरों और मूर्ति पूजा को केवल एक दिखावटी प्रक्रिया मानते थे। उनका मत था कि जब तक मनुष्य अपने हृदय में समरसता और सच्ची श्रद्धा स्थापित नहीं करता, तब तक वह बाहरी कर्मकांडों में उलझा रहेगा और परमात्म–प्रकाश को प्राप्त नहीं कर सकेगा। वे इस विचार को और स्पष्ट करते हुए कर्म की महत्ता को रेखांकित करते हैं। उनके लिए वास्तविक पूजा बाहरी प्रतीकों में नहीं, बल्कि जीवन के आवश्यक कर्मों में थी। यही कारण है कि वे कहते हैं।

''पाहन पूजैं हरि मिलै, तो मैं पूजूं पहार।
घर की चाकी कोई न पूजै, पीसि खाय संसार।''

ऐसे उद्धरण दर्शाते हैं कि कबीर के लिए जीवन का आधार कर्म था, न कि निर्जीव मूर्तियों की पूजा। वे मानते थे कि सच्चा ईश्वर जीवन की क्रियाओं और मनुष्य के नैतिक आचरण में बसता है, न कि मंदिरों और मस्जिदों में। यही दृष्टि उन्हें आधुनिकता के निकट ले जाती है, और इसी कारण उनका जीवन–दर्शन युगों–युगों तक प्रासंगिक बना हुआ है।

यदि हम कबीर को भक्ति, दर्शन या किसी संप्रदाय विशेष की दृष्टि से देखने के बजाय, एक स्वतंत्र मानवीय संवेदना की दृष्टि से देखें, तो हमें उनकी शिक्षाओं का वास्तविक लाभ मिलेगा। इस संदर्भ में कबीर के प्रमुख अध्येता पुरुषोत्तम अग्रवाल लिखते हैंकृ 'कबीर को 'पढ़ने' के लिए उन्हें अजूबा बनाने के प्रलोभनों से

मुक्त होना सबसे पहले जरूरी है। मध्यकाल में होते हुए भी, कबीर, अजीब बात है कि आधुनिक से लगते हैं। 'निरक्षर' होते हुए भी, कबीर, अजीब बात है कि 'ज्ञानीजी' कहे जाते हैं।[6]

कबीर की यही विशेषता उन्हें अन्य संतों से अलग करती है। वे केवल अपने समय की ही समस्याओं पर विचार नहीं करते, बल्कि उनका चिंतन सार्वकालिक है। उनके विचार किसी एक संप्रदाय या मत तक सीमित नहीं थे, बल्कि उन्होंने उन मूलभूत मानवीय मूल्यों को केंद्र में रखा, जो संपूर्ण विश्व के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। यही कारण है कि उनका प्रभाव केवल भारतीय समाज तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि विश्व–स्तर पर भी उनकी शिक्षाओं की गूँज सुनाई देती है।

कबीर के समाज–दर्शन की व्यापकता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि उनके विचार न केवल भारतीय परंपराओं में, बल्कि अन्य धर्मों और दर्शन–परंपराओं में भी समाहित होते हैं। विश्व के सभी प्रमुख धर्मों में कुछ शाश्वत मूल्य निहित होते हैं, जो उन्हें परस्पर जोड़ते हैं। जैसे कि विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों और भौगोलिक परिस्थितियों के बावजूद, मानवता की मूलभूत आवश्यकताएँ समान रहती हैं, वैसे ही कबीर के चिंतन में वे तत्व मिलते हैं, जो सभी संस्कृतियों को जोड़ते हैं।

कबीर पर शोध करने वाले प्रमुख विद्वान एम. डी. थॉमस ने 'कबीर और ईसाई चिंतन' पर एक विस्तृत अध्ययन किया है। वे अपने शोध में इस बात को रेखांकित करते हैं कि कबीर के विचार और ईसाई दर्शन में कई समानताएँ हैं। वे कहते हैं किकृ 'यह अनुशीलन ईसाई दर्शन की ईश्वर चेतना विषयक ईसाई कलीसिया (समाज) तथा कबीर के तद्विषयक कबीर–पंथ के मध्य भी एक क्रियात्मक संवाद के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। साथ ही यहूदी धर्म तथा यूनानी दर्शन की पूर्व परंपराओं से विकसित ईसाई चिंतन एवं भारतीय तथा इस्लामी परंपराओं से उद्भूत कबीर चिंतन में सन्निहित साम्यमूलक तत्व इस शाश्वत तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि मनुष्य की मूलभूत चिंतन–धाराएं तथा साधनाएं स्थान, समय तथा संस्कृति में भेद होने पर भी मूलतः एक ही हैं।'[7]

यह अध्ययन दर्शाता है कि कबीर का समाज–दर्शन केवल भारतीय चिंतन तक सीमित नहीं था, बल्कि वह एक वैश्विक विचारधारा थी, जो स्थान और समय की सीमाओं को लाँघकर संपूर्ण मानवता से जुड़ती है।

कबीर के विचारों का प्रभाव आधुनिक भारतीय चिंतन पर भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। 'कबीरः जीवन और दर्शन' नामक पुस्तक में लेखक इस बात को स्पष्ट करते हैं कि गांधी और कबीर, दोनों ने अपनी क्रांतिकारी भावनाओं के माध्यम से भारतीय समाज को एक नई दिशा दी। लेखक लिखते हैं। 'इन दोनों ही संतों ने अपनी क्रांतिकारी भावनाओं से भारतीय समाज को ऐसी दिशा दी, जिससे वह विश्व समाज का एक स्वस्थ अंग बन गया। इन महापुरुषों का मानस–क्षेत्र इतना विस्तृत था कि न केवल उसमें एक देश, वरन उसकी परिधि में संपूर्ण जगत समाया हुआ लगता था, क्योंकि वह संपूर्ण जगत को, सृष्टि के प्रत्येक अणु को, उस ईश्वर का प्रतिरूप मानते थे जो निराकार होकर भी अनेक आकारों में दिखाई देता है, तथा जो सबसे परे होते हुए भी चराचर में व्याप्त है।[8]

कबीर का समाज–दर्शन कोई सिद्धांत विशेष नहीं है, बल्कि वह जीवन और समाज की समग्रता से अनुप्राणित दर्शन है। वे केवल बाहरी धार्मिक प्रथाओं का विरोध नहीं करते, बल्कि उन मूलभूत त्रुटियों को उजागर करते हैं, जो मनुष्य को उसके वास्तविक स्वरूप से दूर ले जाती हैं। उनका चिंतन केवल एक समय विशेष के लिए नहीं था, बल्कि वह आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना उनके समय में था।

उनके विचारों की सार्वभौमिकता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वे न केवल भारतीय समाज में, बल्कि वैश्विक स्तर पर भी अध्ययन और शोध का विषय बने हुए हैं। उनकी शिक्षाएँ यह संदेश देती हैं कि चाहे धर्म कोई भी हो, मूलभूत मानव मूल्य एक ही होते हैं। कबीर का समाज–दर्शन केवल एक धार्मिक उपदेश नहीं, बल्कि एक जीवन जीने की कला है, जो हमें संकीर्णताओं से मुक्त होकर सच्चे मानवीय मूल्यों की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देती है।

संदर्भ सूची

1. मैकेंजी, जॉन स्टुअर्ट, ऐन इंट्रोडक्शन टु सोशल फिलोस्फ़ी, जेम्स मैक्लोज एंड संज, ग्लासगो, 1890, पृष्ठ–2
2. लॉरेंजन, डेविड एन., निर्गुण संतों के स्वप्न, अनु० धीरेन्द्र बहादुर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019, भूमिका
3. दिनकर, रामधारी सिंह, साहित्य और समाज, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ–12
4. वही
5. हौली, जॉन स्ट्रेटन, थ्री भक्ति वोइसेज़ः मीरा, सूर एंड कबीर इन देयर टाइम एंड आवर्स, अनु० अशोक कुमार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019, भूमिका
6. अग्रवाल, पुरुषोत्तम, अकथ कहानी प्रेम की, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019, (अध्याय–निर्गुण के गुण)
7. थॉमस, एम. डी., कबीर और ईसाई चिंतन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ–13
8. सुरती, उर्वशी, कबीरः जीवन और दर्शन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ–5–6 से उद्धृत